International Journal of Trend in Scientific Research and Development (IJTSRD)
Volume 6 Issue 4, May-June 2022 Available Online: www.ijtsrd.com e-ISSN: 2456 – 6470

जाति और राजनीति

Dr. Rajendra Singh Kheechee

Department of Sociology, Jai Narain Vyas University, Jodhpur, Rajasthan, India

ABSTRACT

सदियों से राजनीति में जाति का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है।भारतीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो राजनीतिक पार्टियों ने जाति को एक मुद्दा बनाकर अपने-अपने हित साधे हैं। देश में 1931 जनगणना से सम्बन्धित अँग्रेज कमिश्नर मिस्टर हट्टन ने लिखा है, सही –सही जाति आधारित जनगणना असम्भव है।

हमारे विशाल देश मे लगभग छ हजार जातियां होगीं उनकी भी उप जातियां होगीं जिनकी संख्या हजारों में होगी। अत; उनकी वैज्ञानिक जन गणना सम्भव नही है।वर्तमान चुनाव 2012 में भी जाति एक अहम मुद्दा बनकर उभरा है, जिसे सभी राजनैतिक पार्टियों ने अपने दलों में टिकट बाँटते समय प्रत्याशी तय करने में ध्यान रक्खा है। क्षेत्रवाद ने जातिवाद को बढाने में अहम भूमिका निभाई , जिसके आधार पर विभिन्न क्षेत्रीय पार्टियों का प्रादुर्भाव हुआ और विभिन्न क्षेत्रीय पार्टियों ने जातीय समीकरण के आधार पर जाति विशेष की हितैषी बनकर भारतीय राजनीति मे अपनी पहचान बनाने मे न केवल कामयाब हुई वरन सत्ता भी प्राप्त करके राष्ट्रीय पार्टियों को भी जाति वाद के फार्मूले पर राजनीति करने के लिये आकर्षित किया। राजनीति के तहत देश में विभिन्न राजनीतिक पार्टियों के कद्दावर नेता तक देश मे जातीय जनगणना को अपना समर्थन दे रहे थे। शायद उन्हे पता नही है कि ऐसा कर वह देश में जातिवाद की अमरबेल बना देना चाहते हैं । देश की राष्ट्रीय एकता को खन्डित करने के लिए अंग्रेजों ने 1871 में जो जातीय जनगणना का विष रूपी अंकुर हमारी राजनैतिक धरा पर बोया था । उसे हमारी राजनैतिक पार्टियां अपने वोट बैंक के लिये राजनैतिक तुष्टीकरण के खाद पानी से सिंचित करती आ रही है। यही कारण है जब एक आम मतदाता चुनाव मे मत डालने निकलता है तो उसके मन मस्तिष्क पर उस प्रत्याशी की छवि और चरित्र से ज्यादा उसकी जाति भारी पड़ जाती है।

हमारे संविधान निर्माताओं ने एक विशाल संविधान की रचना की है, जिसमें अनुच्छेद 16 (4) में पिछड़ें 'वर्गों' के 'नागरिकों' को विशेष सुविधा देने की बात कही है । न कि जाति के आधार पर संविधान भी मजहबी आधार पर आरक्षण की मनाही करता है । इसका मतलब यह है हमारे संविधान के रचनाकारों की भी ऐसी कोई मंशा नही थी। बाबा साहिब भीमराव अम्बेडकर जी ने 'जाति का समूल नाश' नामक पुस्तक लिखकर जातिवाद पर अपने विचारधारा को प्रस्तुत किया। समाजवाद के जनक 'लोहिया' जी ने भी 'जाति तोड़ो' का नारा दिया । इन महापुरुषों के आदर्शों के सहारे राजनीति चमकाने वाले हमारे नेता जातिवाद की राजनीति करके जहाँ एक ओर भारत मे अनेकता में एकता की अन्तर्राष्ट्रीय पहचान को क्षति पहुँचा रहे हैं वहीँ दूसरी ओर इन महान विचारकों के महान आर्दशों का भी माखौल उड़ा रहे हैं।

How to cite this paper: Dr. Rajendra Singh Kheechee "Caste and Politics" Published in International Journal of Trend in Scientific Research and Development (ijtsrd), ISSN: 2456-6470, Volume-6 | Issue-4, June 2022, pp.1308-1311, URL: www.ijtsrd.com/papers/ijtsrd50307.pdf

IJTSRD50307

Copyright © 2022 by author(s) and International Journal of Trend in Scientific Research and Development Journal. This is an Open Access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution License (CC BY 4.0) (http://creativecommons.org/licenses/by/4.0)

परिचय

हम इक्कीसवीं सदी के भारत में रह रहे है। पहले की तुलना मे समाजिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो जाति का महत्व थोड़ा कम अवश्य हुआ है। परन्तु राजनीति के धरातल में इसकी सत्यता आंकी जाय तो यह देश का हर नागरिक स्वीकार करेगा, कि जातिवाद का मुद्दा सभी राजनैतिक पार्टियां सुलगाये रखना चाहती हैं क्यों कि इसे समय –समय पर थोड़ी सी राजनैतिक हवा देकर आग लगायी जा सकती है और अपना राज नैतिक उल्लू साधा जा सकता है।

आज हमारा भारत विकासशील देशों मे सर्वोच्चता के स्थान पर पहुंच कर विकसित राष्ट्र बनने की देहलीज पर खड़ा है। ऐसे में भारतीय राजिनीति में इस प्रकार जातिवाद की जो अवधारणा अपनी जड़ें जमा रही है उसके दूरगामी परिणाम स्वरूप कहीं ऐसा न हो, कि भारतीय समाज जातीय संघर्ष में जूझने लगे और भारत की एकता व अखन्डता के समक्ष सकंट उत्पन्न हो जाय्। जाति प्रथा किसी ना किसी रूप में संसार के प्रत्येक क्षेत्र में पाई जाती है बाबू जगजीवन राम के शब्दों में 'जाति भारतीय राजनीति की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सत्यता है' एक सामान्य भारतीय अपना

सब कुछ त्याग सकता है परंतु जाति व्यवस्था में अपने विश्वास की तिलांजलि नहीं दे सकता है। जाति प्रथा भारतीय हिंदू समाज की प्रमुख विशेषताएं हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में लोकतांत्रिक प्रक्रिया के प्रारंभ होने से भारतीय समाज में स्थापित जाति प्रथा ने मतदान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाना प्रारंभ कर दिया और जाति की राजनीति में भूमिका से जाति एक महत्वपूर्ण व प्रभाव कारी तत्व बनती चली गई। इस प्रकार वयस्क मताधिकार लागू करने के पश्चात जाति एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आई।[1]

कुछ लोग यह सोचते है कि मनु ने "मनु स्मृति" में मानव समाज को चार श्रेणियों में विभाजित किया है, ब्राहमण , क्षत्रिय , वेश्य और शुद्र। विकास सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक विकास के कारण जाति प्रथा की उत्पत्ति हुई है। सभ्यता के लंबे और मन्द विकास के कारण जाति प्रथा मे कुछ दोष भी आते गए। इसका सबसे बङा दोष छुआछुत की भावना है। परन्तु शिक्षा के प्रसार से यह सामाजिक बुराई दूर होती जा रही है।

जाति प्रथा की कुछ विशेषताएँ भी हैं। श्रम विभाजन पर आधारित होने के कारण इससे श्रमिक वर्ग अपने कार्य मे निपुण होता गया क्योकि श्रम विभाजन का यह कम पीढियो तक चलता रहा था। इससे भविष्य - चुनाव की समस्या और बेरोजगारी की समस्या भी दूर हो गए। तथापि जाति प्रथा मुख्यत: एक बुराई ही है। इसके कारण संकीर्णना की भावना का प्रसार होता है और सामाजिक , राष्ट्रिय एकता मे बाधा आती है जो कि राष्ट्रिय और आर्थिक प्रगति के लिए आवश्यक है। बङे पेमाने के उद्योग श्रमिको के अभाव मे लाभ प्राप्त नही कर सकते। जाति प्रथा में बेटा पिता के व्यवसाय को अपनाता है , इस व्यवस्था मे पेशे के परिवर्तन की सन्भावना बहुत कम हो जाती है। जाति प्रथा से उच्च श्रेणी के मनुष्यों में शारीरिक श्रम को निम्न समझने की भावना आ गई है। विशिष्टता की भावना उत्पन्न होने के कारण प्रगति कार्य धीमी गति से होता है। यह खुशी की बात है कि इस व्यवस्था की जङे अब ढीली होती जा रही है। वर्षो से शोषित अनुसूचित जाति के लोगो के उत्थान के लिए सरकार उच्च स्तर पर कार्य कर रही है। संविधान द्वारा उनको विशेष अधिकार दिए जा रहे है। उन्हे सरकारी पदो और शैक्षणिक संस्थानो में प्रवेश प्राप्ति में प्राथमिकता और छूट दी जाती है। आज की पीढी का प्रमुख कर्त्तव्य जाति - व्यवस्था को समाप्त करना है क्योकि इसके कारण समाज मे असमानता , एकाधिकार , विद्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते है। वर्गहीन एवं गतिहीन समाज की रचना के लिए अन्तर्जातीय भोज और विवाह होने चाहिए। इससे भारत की उन्नति होगी और भारत ही समतावादी राष्ट्र के रूप मे उभर सकेगा।

देश में आम चुनाव के नतीजों की अकादमिक व्याख्या का काम जारी है. इस क्रम में एक एनालिसिस बार-बार की जा रही है कि इस चुनाव में जाति की राजनीति का अध्याय खत्म हो गया है. भाजपा के प्रचंड बहुमत और खासकर उत्तर भारत में उसकी जीत को मंडल राजनीति और बहुजन राजनीति के अंत के रूप में देखा जा रहा है. बीजेपी ने भी अपनी जीत को राष्ट्रवाद और विकास की राजनीति की जीत करार दिया है. नरेंद्र मोदी ने कहा है कि वे आगे भी विकास पर अपना फोकस बनाए रखेंगे.

राजनीति में जाति के महत्व पर अत्यधिक बल देने वालों को नसीहत देते हुए समाजशास्त्री . जो लोग ये मानते हैं कि भारतीय राजनीति केवल जातीय समीकरण से चलती है, वे अपने आकलन में दो गलतियां करते हैं.

पहली गलती तो ये है कि जाति समीकरण बनाते वक़्त राजनीतिक विश्लेषक जाति क्रम में लगभग आस-पास खड़ी जातियों को एक साथ जोड़कर देखते हैं. उनसे एक जैसे राजनीतिक व्यवहार की उम्मीद करते हैं. मिसाल के तौर पर कृषक वर्ग की जातियां जैसे जाट, गुर्जर और यादव या फिर अति पिछड़े वर्ग की जातियों को राजनीतिक विश्लेषक हमेशा एक साथ वोट करता हुआ मानते हैं. जबकि, ये जातियां एक दूसरे के प्रति मान-सम्मान न रखकर, एक दूसरे से एक चिढ़ रखती हैं और एक दूसरे से प्रतियोगिता करती हैं. इस कारण इनका साथ आना लगभग असंभव होता है.[2]

भारत में जाति एवं राजनीति के मध्य आपसी संबंध को निम्न बिंदुओं के आधार पर समझ सकते हैं-

1. राजनीति में जातिवाद के प्रभाव को जाति का राजनीतिकरण कहा जा सकता है। लोकतांत्रिक राजनीति के अंतर्गत राजनीति,जाति के संगठन के माध्यम से अपना आधार दृढ़ करती हैं जाति ने राजनीति में अपनी भूमिका निर्वाह हेतु नवीन रूप धारण कर लिया है।
2. सभी राजनीतिक दल सिद्धांतः जातिवाद की निंदा करते हैं किंतु जातीय ध्रुवीकरण के माध्यम से सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।
3. राजनीतिक दलों द्वारा प्रत्याशियों का चयन तथा सफलता की संभावना का आकलन जातीय मापदंडों से किया जाता है योग्यता व सेवा तत्वों की उपेक्षा की जाती है।
4. मंत्रिमंडल का निर्माण करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि सभी जातियों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाए।
5. जातीयां सरकार की निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं इसका उदाहरण है अनुसूचित जातियों के लिए आरक्षण, मंडल आयोग द्वारा अन्य पिछड़े वर्ग के लिए आरक्षण का क्रियान्वयन।
6. प्रशासन में भी आरक्षण के माध्यम से जाति को महत्व प्रदान किया गया है।
7. राजनीतिक नेतृत्व का जनाधार केवल जातिगत आधार तक ही सीमित है।
8. जातीय संघर्ष से राजनीति के अंतर्गत हिंसा का प्रवेश हो गया है और जाति एक उपलाभ पदावली बन गई है।

विचार-विमर्श

राजनीति पर जाति व्यवस्था का प्रभाव समय के साथ-साथ बढ़ रहा है लेकिन जाति व्यवस्था का रूप परिवर्तित होता रहता है।स्वतंत्रता के बाद भारत के राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव पहले की अपेक्षा बढ़ा है अतः भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का अध्ययन नियमानुसार किया जा सकता है-

1. जाति प्रधान राजनीतिक दलों का विकास-राजनीति के अंतर्गत सफलता प्राप्त करने के लिए जाति प्रधान राजनीतिक दलों का विकास हो रहा है। यह नेता की भावनाओं को उभार कर राजनीतिक लाभ उठाते हैं और उसी के आधार पर चुनाव जीतने का प्रयास करते हैं जैसे

लोकदल पार्टी, बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी आदि।

2. जाति के आधार पर चुनाव क्षेत्र में उम्मीदवारों का चयन करना।
3. राजनीतिक दलों द्वारा जातिगत आरक्षण के माध्यम से हितों को पूरा करने की होड़।
4. मंत्रिमंडल के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व जैसे ब्राह्मण ,जाट ,राजपूत ,कायस्थ ,दलित व पिछड़े आदि।
5. निर्णय प्रक्रिया में जाति की भूमिका-जातीय संगठन अपने हितों के अनुसार निर्णय करने तथा अपने हितों के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने हेतु निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं।
6. जाति एवं प्रशासन-भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के अलावा प्रशासन में भी जातिगत आरक्षण की व्यवस्था की गई है अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति के अलावा अन्य पिछड़े वर्गों को भी आरक्षण दिया गया है।
7. चुनाव प्रचार में जाति का सहारा-राजनीतिक दल एवं उम्मीदवार चुनाव प्रचार में जाति का खुलकर प्रयोग करते हैं चुनाव के समय जातीय समीकरण बैठाए जाते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल क्षेत्र विशेष में जिस जाति का बाहुल्य है उसमें उसी जाति के बड़े नेता का चुनाव प्रचार हेतु भेजने का प्रयत्न करते हैं।
8. जाति के आधार पर राजनीतिक अभिजनों का उदय-जो लोग जातीय संगठनों में उच्च पदों पर पहुंच गए हैं वे ही राजनीति में भी अच्छे स्थान प्राप्त करने में सफल हुए हैं ऐसे लोग राजनीति में चाहे खुलकर जातिवाद का सहारा ना लें फिर भी यह अपनी पृष्ठभूमि को नहीं भूलते। वे अपने जातीय हितों की प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पैरवी करते रहते हैं।

राजनीतिक विश्लेषकों से दूसरी गलती ये होती है कि वे किसी एक सीट पर किसी खास जाति का प्रभाव निर्णायक मानकर उसे जाति बहुल सीट करार देते हैं. देश में किसी भी संसदीय क्षेत्र में किसी भी एक जाति का 20 प्रतिशत से ज्यादा वोट नहीं है. फिर भी, राजनीतिक जानकार किसी इलाके को जाट लैंड तो किसी को यादव लैंड घोषित करके किसी की जीत का अनुमान लगाते हैं. जबकि, हकीकत ये है कि किसी भी संसदीय सीट में किसी एक जाति का वोट निर्णायक नहीं होता

जाति क्रम में आसपास वाली जातियों में भी एकजुटता हो सकती हैं, जिसके भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं. जातियों में राजनीतिक निकटता का जो सबसे प्रमुख कारण है. वह ये कि सत्ता में भागीदारी और पावर शेयरिंग अपने आप में एक सिद्धांत बन जाता है, जो मोटे तौर पर जातियों के लोगों को फायदा पहुंचता है. नजदीक की जातियों में एकता हो सकती है. मौजूदा चुनाव में ये एकता सवर्ण कही जाने वाली जातियों में दिखी है. चरण सिंह जैसे बड़े किसान नेता के लिए भी मजगर (मुस्लिम, अहीर, जाट, गुर्जर, राजपूत) समीकरण ने काम किया था. इस समीकरण का आधार किसान जातियों की एकता थी. इसी तरह सवर्ण जातियां भी सत्ता में भागीदारी बढ़ाने के लिए एकजुट हो सकती है. आरक्षण के सवाल पर 2015 में बिहार विधानसभा चुनाव में यादव, कुर्मी, कुशवाहा समेत कई पिछड़ी जातियां एकजुट हो गई थीं.[3] बीएसपी भी एक समय में लगभग सभी दलित जातियों को एक साथ जोड़ पाई थी. इसका मतलब ये नहीं है कि इनके बीच अंतर्विरोध खत्म हो गए, लेकिन साझा हित और पावर शेयरिंग के लिए एक समान जातियों की एकता पहले भी बनती रही है इस बार भी यही हुआ है. खास बात ये है कि इस बार सवर्णों ने एकजुटता दिखाई है.

परिणाम

किसी भी संसदीय सीट पर एक जाति की संख्या 20 परसेंट से ज्यादा नहीं है. हालांकि, जाति जनगणना के अभाव में ऐसे किसी क्लेम पर विवाद हमेशा रहेगा. फिर भी अगर इस बात को मान लें तो भी कई सीटों पर एक जाति के ज्यादा असर की बात से इनकार नहीं किया जा सकता. मिसाल के तौर पर, यूपी की मुजफ्फरनगर सीट पर पक्ष और विपक्ष दोनों से जाट कैंडिडेट का होना या बिहार के मधेपुरा में भी दोनों पक्ष से यादव उम्मीदवार का होना कोई संयोग नहीं है. ये तो मुमकिन है कि एक जाति के वोट से उम्मीदवार जीत नहीं सकता, लेकिन इसी आधार पर ये भी कहा जा सकता है कि भारत में कोई भी पार्टी, जो चुनाव जीतती रही है, सिर्फ एक जाति की पार्टी नहीं है.

राजनीतिक दलों ने जब जनता को सम्मोहित करने मैं अपने आप को असमर्थ महसूस किया तब राजनीति का खेल खेलने के लिए नेताओं ने राजनीति में जातिवाद का सहारा लिया। दलित शोषितों के उत्थान की आड़ में जातिवाद को राजनीति का अनिवार्य अंग बना दिया। जातिवाद के कारण जहां राज्य का उद्देश्य जनकल्याण का था उसको बदलकर रख दिया उसका वास्तविक उद्देश्य विभिन्न जातियों को संतुष्ट करने का रह गया। राजनीतिक दलों ने जातियों को वोट बैंक के रूप में हमेशा प्रयुक्त किया है।

अतः राजनीति में समाज व्यवस्था के दोषों को बढ़ावा देकर उसे परस्पर जाति संघर्ष एवं वैमनस्यता की आग में डाल दिया जिस पर राजनेता अपने हाथ सेंकते रहे हैं। जातिवाद में लोकतंत्र की धारणा के विरुद्ध काम किया है। जाति व्यवस्था ने राष्ट्र के एकीकृत स्वरूप के लिए संकट पैदा कर दिया है। फिर भी यह सत्य है कि जाति भारत के समाज की महत्वपूर्ण इकाई जिसकी उपेक्षा करना आसान नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि जाति के नकारात्मक स्वरूप के स्थान पर सकारात्मक स्वरूप की स्थापना की जाए। रुडोल्फ के अनुसार"जाति व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण मे सहयोग देकर परंपरा वादी व्यवस्था को आधुनिकता में डालने का कार्य किया है।[4]

इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि जहां राजनीति का आधार शिक्षा, वैज्ञानिक सोच, बराबरी का व्यवहार और जन कल्याण होना चाहिए था, वहां स्वतंत्रता की तीन चौथाई सदी के बाद भी धार्मिकता, जातीयता, सा प्रदायिकता और क्षेत्रीयता का ही बोलबाला है। राजनीति के इन स्थायी हो चुके आधारों का विश्लेषण करना वर्तमान परिस्थितियों में जरूरी हो गया है।

भारतीय राजनीति में सबसे पहले अपना धर्म आता है जिसे मानता और उसके अनुसार चलता हर कोई है लेकिन दिखलाता यही है कि वह धर्म के आधार पर कतई कोई भेदभाव नहीं करता। इसे कथनी और करनी में अंतर कह सकते हैं। जब बात धर्म की रक्षा करने की आती है तो उसके लिए कैसी भी कुर्बानी देने या कहें कि शरारत करने की छूट मिल जाती है।

धर्म को अफीम की संज्ञा दी गई है, अर्थात धार्मिकता एक ऐसी लत है जो अगर लग जाए तो इंसान उससे अधिक किसी चीज को नहीं मानता। यह जो आज जेलों में बहुत से कथित साधु-संत, महात्मा अपने दुराचार और बलात्कार तथा हत्या के आरोप में बंद हैं, उनके कट्टर अनुयायी यह मानते ही नहीं कि इन लंपटों का कोई दोष भी है। यह ऐसा इसलिए है क्योंकि उन्हें धर्म की अफीम चटा दी जाती है और वे उसके नशे से मुक्त नहीं हो पाते। हमारे सभी राजनीतिक दलों के लिए ये लोग बहुत काम के होते हैं और इनसे सांठ-गांठ किए रखना इन दलों के सुनहरे भविष्य की गारंटी है।

धार्मिक उन्माद को भड़काना बहुत आसान है, छोटी-सी झड़पचगारी प्रदेश से लेकर देश तक को दंगों की आग में झुलसा सकती है क्योंकि धर्म है ही ऐसी चीज जो अगर चाहे तो एकता की डोरी को अटूट बंधन में बदल दे और अगर न चाहे तो उसका असर भारत विभाजन की त्रासदी जैसा भी हो सकता है।

राजनीति का दूसरा मजबूत स्तंभ जातियों के बीच समन्वय बनाए रखकर जनता को उनकी जाति के आधार पर बांटकर रखने की कला का नाम ही जातीयता है। जात-पात के आधार पर चुनाव लडऩा और जीतने के लिए अपनी जाति को आधार बनाना आजादी के बाद हुए पहले चुनाव से लेकर आज तक बदस्तूर जारी है।

आपने अक्सर देखा होगा कि जब चुनाव नजदीक आते हैं और उ मीदवार बनाने की शुरूआत होती है तो जातियों का समीकरण बिठाया जाने लगता है। जातियों जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की संख्या के आधार पर प्रत्याशी घोषित किए जाते हैं। ऐसे नेताओं का दलबदल भी कराया जाता है जिनका उस क्षेत्र में अपनी जाति का वोट बैंक हो। कुछ दल तो जातीयता को ही मुद्दा बनाकर सत्ता पर काबिज हो पाए हैं।

ये जातियां भी कमाल की चीज हैं, इनके आगे किसी अन्य योग्यता की जरूरत नहीं रह जाती। अनपढ़, गंवार से लेकर आपराधिक गतिविधियों में शामिल लोग भी जाति पर अपनी मजबूत पकड़ होने से बार-बार चुने जाते हैं। विधानसभा से लेकर लोकसभा तक में हत्या, बलात्कार, हिंसा भड़काने के आरोपी केवल जातीयता के बल पर ही देश के संविधान रक्षकों और कानून बनाने वालों की जमात में शामिल हो जाते हैं जबकि उनकी जगह जेल में होनी चाहिए।[5]

निष्कर्ष

इस बार भी काफी दलित पिछड़ों ने बीजेपी को वोट दिया है. मगर क्या इससे ये माना जाए कि जाति की राजनीति ख़त्म हुई है. कहीं ऐसा तो नहीं कि धर्म और विकास के लुभावने मिश्रण ने सभी वर्गों के लोगों को बीजेपी की ओर आकर्षित किया है. विकास की होड़ के साथ, मुसलमानों से डर या उनसे नफरत वह बिंदु तो नहीं, जहां कई तरह के सामाजिक समूह एकजुट होकर बीजेपी के साथ खड़े हो गए हैं. सवाल तो ये भी पूछा जाना चाहिए कि गरीब और अमीर सवर्णों ने एक साथ वोट क्यों डाला. उसी तरह ये भी पूछा जा सकता है कि हिंदू और मुसलमानों के जिन तबकों में आर्थिक स्तर पर फर्क कम हैं और जिनके साझा आर्थिक हित हैं, उन्होंने एक साथ मतदान क्यों नहीं किया.

राजनीति का तीसरा स्तंभ संप्रदायों के बीच नफरत फैला कर अपना उल्लू सीधा करना है। हमारे देश में जनता के बीच उनके संप्रदाय के आधार पर विभाजक रेखा बनाए रखकर राजनीति करने का चलन आजादी के बाद से ही शुरू हो गया था जो कम होना तो दूर, अपनी जड़ें गहरी करता जा रहा है। देखा जाए तो जातीयता और सा प्रदायिकता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, अंतर केवल इतना है कि जाति का दायरा सीमित है और संप्रदाय का बहुत विशाल। राजनेताओं के लिए संप्रदाय के आधार पर सफलता की सीढिय़ां चढ़ते जाना उनका मूलमंत्र है। क्षेत्रीयता का अर्थ अपने इलाके की बागडोर एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में होना है, जिसके इशारा करते ही पूरा माहौल बदल जाए अर्थात कल तक जो आसमान की बुलंदी पर थे, वे धड़ाम से नीचे गिरे दिखाई दें और जिसे कोई जानता तक न हो, उसके हाथों में शासन की लगाम आ जाए। क्षेत्रीय दलों के क्षत्रप राष्ट्रीय दलों के बड़े-बड़े नेताओं से अधिक शक्तिशाली होते हैं। क्षेत्रीयता के दायरे में अधिकतर वे राजनीतिक दल आते हैं, जिनका आधार पारिवारिक होता है। इनका प्रभाव छोटे राज्यों में अधिक होता है और वहां सत्ता का परिवर्तन आम तौर पर दो दलों के बीच होता रहता है। इनका प्रभाव इतना अधिक होता है कि अपने को राष्ट्रीय दल कहने का दंभ भरने वाले इनके आगे पानी भरते दिखाई देते हैं। ये दल जोड़-तोड़ करने में माहिर होते हैं।

क्षेत्रीय दल अपनी सुविधा के हिसाब से किसी से भी गठबंधन कर लेते हैं, उनके लिए सिद्धांत या नीति और यहां तक कि अपनी गरिमा बनाए रखना कोई ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं होता बशर्ते कि सत्ता सुख में कोई कमी न हो। इस तरह राजनीति के ये चार स्तंभ हमारे देश के राजनीतिक दलों तथा उनके कर्णधारों के लिए मार्गदर्शक का काम करते हैं। इन्हें देश की गरीबी, बेरोजगारी, महंगाई से कोई मतलब नहीं होता। इन चारों स्तंभों की मजबूती का एकमात्र कारण राजनीतिक दलों द्वारा देश में शिक्षा का प्रसार न होने देना है। आज जो देश में आपाधापी, अविश्वास, गलाकाट प्रतियोगिता, किसी भी कीमत पर सत्ता पर कब्जा जमाए रखना और कानून व्यवस्था के स्थान पर जिसकी लाठी उसकी भैंस का वातावरण है, उसका कारण धर्म, जाति, संप्रदाय और क्षेत्रीयता को राजनीतिक दलों द्वारा अपना नीतिगत सिद्धांत बना लेना है। इसमें परिवर्तन होना आवश्यक है वर्ना डर है कि देश को फिर से कहीं आजादी के पहले वाले हालात में हमारे वर्तमान नेता न पहुंचा दें।

भारत में राजनीति और जाति के अंतर्संबंधों पर बात करते हुए धर्म के पहलू को छोड़ा नहीं जा सकता है. वैसे भी दक्षिण एशिया में धर्म और जाति जिस तरह जुगलबंदी करके चलते हैं, उसमें ये मानना भूल होगी कि राजनीति में ये अंतर्संबंध काम नहीं करता होगा.[5]

संदर्भ

[1] अंग्रेजों ने भारत में जाति व्यवस्था का बीज कैसे बोया था? (संजय चक्रवर्ती, प्रोफेसर, टेंपल यूनिवर्सिटी, फ़िलाडेल्फ़िया, अमरीका) 2001

[2] जाति प्रथा, 1998

[3] Can caste-free Hariyana be a reality? 2003 क्या शहरीकरण भारत के जातिगत मुद्दों के लिए रामबाण इलाज हो सकता है? 2005

[4] जातिवाद का अर्थ और इतिहास, 1999